अभावज्ञान की समस्या : एक अनुभववादी समाधान

सच्चिदानन्द मिश्र

न्यायसम्प्रदाये द्वादशसु प्रेमेयेषु अपवर्गः अपि परिगणितः। अपवर्गः अभावरूपः। अतः अभावोऽपि प्रमेयः तन्मते। अभावः केन प्रमाणेन ज्ञायते इत्यत्र मतभेदाः दृश्यन्ते। न्यायवैशेषिकदर्शनयोः अभावः प्रत्यक्षेण ज्ञायत इति, प्राभाकरनये अनुमानेन इति, भाट्टनये अनुपलब्ध्येति मतभेदाः। एवमभावसम्बन्धिन्यः समस्याः परिशील्य समाधाानानि प्रस्तुत्य तत्समाधानानाम् औचित्यं च विवेचयति प्रबन्धाऽस्मिन् अतिगभीरे निबन्धे।

दर्शन जहाँ मुख्यतः सत्ताविषयक चिन्तन को महत्त्व प्रदान करता है, वहीं अभावविषयक चिन्तन भी किसी न किसी रूप में सत्ताविषयक प्रश्नों के दायरे में आ ही जाया करता है। अभावज्ञान की समस्या ज्ञानमीमांसीय समस्या है या तत्त्वमीमांसीय समस्या यह निर्धारण करना भी एक कठिन कार्य है। अनेक चीजें उलझी हुई हैं। अगर अभाव नाम का कोई प्रमेय हो ही नहीं तो किस प्रकार से अभावज्ञान की समस्या को ज्ञानमीमांसीय प्रश्न के रूप में उपस्थित किया जा सकेगा? इस कारण अभावज्ञान की समस्या एक ओर जहाँ ज्ञानमीमांसीय समस्या है, वहीं यह तत्त्वमीमांसीय समस्या भी है। न्यायवैशेषिकपरम्परा में अभाव को एक सत्ताविषयक प्रश्न के रूप में, प्रस्तुत करने का श्रेय सर्वप्रथम अगर किसी को जाता है, तो वह न्यायसूत्रकार गौतम को जाता है। न्यायसूत्रों में अभावप्रमाण के बारे में प्रश्न उठाते हुए गौतम पूछते हैं कि अभाव तो प्रमाण ही नहीं हो सकता है क्योंकि उसका कोई प्रमेय ही नही है।[१] तथा अन्त में यह सिद्ध करते हैं कि अभाव भी एक प्रमेय है। न्यायपरम्परा के लिए अभाव को प्रमेय मानना अनिवार्य

है, क्योंकि आत्मा, शरीर आदि द्वादश प्रमेयों में अपवर्ग की भी गणना की गयी है और अपवर्ग स्वयं अभावात्मक है। इस प्रकार की अनिवार्यता अन्य किसी दर्शनसम्प्रदाय के साथ नहीं है। यहाँ तक कि न्यायसम्प्रदाय के समानतन्त्र वैशेषिकसम्प्रदाय के लिए भी अभाव को अतिरिक्त प्रमेय के रूप में मान्यता देना उस प्रकार के आवश्यक नहीं दिखायी देता। हमारा तो यही मानना है कि वैशेषिकसम्प्रदाय में अभाव का एक पदार्थ के विभाग के रूप में मान्यता प्रदान करने का आधार वस्तुतः न्यायसम्प्रदाय के सिद्धान्तों में ही दिखायी पड़ता है। न्यायसूत्रकार का उक्त प्रश्न अभाव के प्रामाण्य के बारे में न होकर अनुपलब्धि के प्रामाण्य के बारे में है। अनेक दर्शनसम्प्रदायों की मान्यता है कि अभाव को जानने के लिए हमारे पास अनुपलब्धिा ही प्रमाण के रूप में उपलब्ध है। अन्य किसी प्रमाण के द्वारा अभाव का ज्ञानसम्भव नहीं होता। अभाव को किस प्रमाण के द्वारा जाना जायेगा इस विषय में कई मत सामने आते हैं। उन समस्त मतों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं तथा अपने-अपने आग्रह हैं। न्यायवैशेषिकपरम्परा की यह मान्यता कि अभाव को हम प्रत्यक्ष के द्वारा जानते हैं, कम विरोधाभासों को जन्म देती है। प्राभाकर मीमांसकों का अभाव को अधिाकरणात्मक मानकर, उसका प्रत्यक्ष से ज्ञान स्वीकार करना भी कम विसङ्गत प्रतीत नहीं होता। साथ ही बौद्ध दार्शनिकों के समान यह स्वीकार करना कि अभाव अनुमान प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, इसके भी विविध अन्तर्विरोध हैं। कुमारिलभट्ट व अद्वैतवेदान्तियों का यह स्वीकार, कि अभाव अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, भी अनेक सैद्धान्तिक पूर्वाग्रहों पर आधारित है। मैं इस आलेख में मूल रूप से यह देखने का प्रयास करूँगा कि अभावज्ञान की समस्या किस प्रकार से जन्म लेती है, तथा उसके क्या समाधान अनुभववादी दृष्टिकोण से हो सकते हैं। साथ ही यह भी दिखाने की कोशिश करूँगा कि वे समाधान कितने सङ्गत हैं? वे समाधान किस प्रकार से व्यवस्थापित किये जा सकते हैं।

न्यायदर्शन को वस्तुवादी दर्शन के साथ साथ अनुभववादी दर्शन भी माना जाता है। हमारे समस्त ज्ञान हमारे अनुभव से ही जन्म लेते हैं। हमारे ज्ञान का आरम्भ ही अनुभव से होता है। मैं इस जगह पर अनुभव पद का प्रयोग उस अर्थ में कतई नहीं कर रहा हूँ, जिस अर्थ में न्यायवैशेषिकपरम्परा में इस शब्द का प्रयोग सामान्य रूप में प्रचलित है। न्यायवैशेषिकपरम्परा में सामान्यतः 'अनुभव' शब्द स्मृतिभिन्न ज्ञानमात्र के लिए प्रयुक्त होता है।[२] प्रत्यक्ष, अनुमति, उपमिति व शाब्दबोध इन चारों प्रकार के ज्ञानों के ज्ञानों को 'अनुभव' शब्द के द्वारा इङ्गित

किया जाता रहा है। परन्तु इस स्थल पर मैं 'अनुभव' शब्द का प्रयोग उस सङ्कुचित अर्थ में कर रहा हूँ, जिसके लिए सामान्यतः 'प्रत्यक्ष' पद का प्रयोग किया जाता है। हमारे ज्ञान का आरम्भ प्रत्यक्ष से होता है। यह एक आधारभूत अभ्युपगम है, जिसको नकारने का कोई भी नैयायिक कभी भी साहस नहीं कर सकता। हालाँकि अगर पूछा जाये कि यह किस प्रकार से सिद्ध होता है कि हमारे ज्ञान का आरम्भ अनुभव से ही होता है? तो पूरा कोई सन्तोषजनक उत्तर दे पाना नैयायिक के लिए थोड़ा मुश्किल होगा। परन्तु नैयायिक यही कहेगा कि इसके अतिरिक्त हमारे पास कोई अन्य विकल्प उपलब्ध ही नहीं है। अनुमान के स्थल में व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है, तथा हेतु के पक्ष में विद्यमानता का ज्ञान भी तो प्रत्यक्ष या कहीं पर शब्दप्रमाण से होता है। जब तक शब्द की शक्ति का अर्थ में ग्रहण न हो, तब तक शब्दबोधात्मक ज्ञान भी सम्भव नहीं है क्योंकि प्रथमतः शब्द का प्रात्यक्षिक ज्ञान होगा, तदनन्तर उस शब्द के अर्थ का स्मरण और उसके बाद फिर शाब्दबोध। इसी कारण गङ्गेशोपाध्याय **:तत्त्वचिन्तामणि'** के अनुमानखण्ड का प्रारम्भ करते हुए करते हैं कि 'प्रत्यक्षाधारित होने के कारण प्रत्यक्ष के बाद व अनेकवादियों के द्वारा स्वीकृत होने के कारण उपमा प्रमाण के पूर्व अनुमान का निरूपण किया जा रहा है।[३] इस कारण प्रत्यक्षारिक्त प्रमाणों को स्वीकार करने के बावजूद न्यायपरम्परा 'अनुभवादी' परम्परा है क्योंकि समस्त ज्ञान किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष पर आश्रित होते हैं। यद्यपि शब्द प्रमाण को दो प्रकार का स्वीकार किया गया है, दृष्टार्थ व अदृष्टार्थ।[४] परन्तु अदृष्टार्थविषयक शब्द प्रमाण भी प्रत्यक्षाश्रित होता है क्योंकि शब्द की अर्थ में शक्ति जब तक गृहीत नहीं है, तब तक शब्दप्रमाण अर्थबोधान में समर्थ नहीं होता। अर्थ में शब्द की शक्ति का ग्रहण किसी न किसी रूप में साक्षात् या परम्परया प्रत्यक्षाधारित ही होता है। इस कारण प्राथमिक ज्ञान तो केवल प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है। अन्य किसी प्रकार से ज्ञान का प्रारम्भ होने का कोई आधार ही नहीं है। इस कारण हमारे समस्त ज्ञानों का उद्गमस्थल हमारा अनुभव यानी प्रत्यक्ष ही है। नैयायकों का वस्तुवाद उनके इस अनुभववाद की स्वाभाविक परिणति है। यह अवश्य है कि नैयायिकों का अनुभववाद पाश्चात्य अनुभववाद से पर्याप्त भिन्न प्रकार का है। पाश्चात्य अनुभववाद लौकिक अनुभवों को भी स्पेकुलेटिव अभ्युपगमों के आधार पर ठुकरा देने का साहस करता है, परन्तु न्यायपरम्परा का अनुभववाद ऐसा नहीं करता और ऐसा करने का कोई आधार ही पाता है। यही कारण है कि न्यायवैशेषिक परम्परा में और अन्य भारतीय दर्शनसम्प्रदायों में भी, व्यवहारविरोधा

को भी एक दोष के रूप में देखने की परम्परा दिखायी देती है, जो कि पाश्चात्य परम्परा में नितान्त रूप से अनुपलब्ध है। जो सामान्य जन का अनुभव है उस अनुभव का आदर होना चाहिए। नैयायिक उसी अनुभव पर अपने दर्शन का महल बनाते हैं, जो लौकिकों व परीक्षकों का सामान्य अनुभव है। इसी कारण दृष्टान्त की परिगणना सोलह पदार्थों में न्यायसूत्रकार गौतम करते है।[५] इस कारण न्यायपरम्परा का वस्तुवाद वस्तुतः असमीक्षित वस्तुवाद नहीं है, जैसा कि बहुत बार मान लिया जाता है। यह नैयायिकों के उपर्युक्त अभ्युपगम की स्वाभाविक परिणति है।

अभाव को न्यायपरम्परा में प्रत्यक्ष से ज्ञात माना जाता है। परन्तु न्यायपरम्परा के प्रारम्भिक काल में ऐसा नहीं था। न्यायसूत्रों में अभाव का ज्ञान अनुमान के द्वारा होने की बात कही गयी है। न्यायसूत्रकार गौतम प्रमाणों की संख्याविषयक विप्रलिपत्ति का उपस्थापन करते हैं कि 'प्रमाण चार ही नहीं हैं क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव व अभाव भी प्रमाण होते हैं।[६] न्यापरम्परा चार प्रमाण स्वीकार करती है, परन्तु अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव व अभाव भी प्रमाण के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। इसी प्रशन को इस न्यायसूत्र में उपस्थापित किया गया है। इसका समाधान अग्रिम सूत्र के द्वारा गौतम करते हैं कि 'ऐतिह्य शब्दप्रमाण से अतिरिक्त नहीं है तथा अर्थापत्ति, सम्भव व अभाव अनुमान से अतिरिक्त नहीं हैं, इस कारण चार प्रमाण ही नहीं हैं ऐसा प्रतिषेध नहीं किया जा सकता।[७] इस प्रकार से न्यायसूत्रकार का आशय अभावज्ञान के अनुमान के द्वारा ही सम्भव होने का ही प्रतीत होता है। परन्तु न्यायवार्तिककार उद्योतकर पर पहुँचते-पहुँचते यह एकदम स्पष्ट रूप से व्यवस्थापित होता दिखायी देता है कि अभावज्ञान अनुमान के द्वारा न होकर प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। अभाव के साथ भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सम्भव है, तथा वह सन्निकर्ष किस प्रकार का है, यह स्पष्ट करते हुए सर्वप्रथम उद्योतकर को ही हम पाते हैं। उद्योतकर ने ही यह बात सर्वप्रथम कही कि इन्द्रिय अभाव के साथ सन्निकर्ष विशेषाविशेष्यभावरूप हुआ करता है। यहाँ पर न्यायसूत्रकार के मत से उद्योतकर का एक विचलन सा दिखायी देता है, तथा परवर्ती न्यायवैशेषिकपरम्परा उद्योतकर का ही अनुसरण करती दिखती है। न्यायसूत्रकार का अभावज्ञान का अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा सम्पादन न्यायपरम्परा के विरोधी बौद्धपरम्परा का स्मरण कराता है। बौद्धपरम्परा में भी अभाव का ज्ञान अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा होने की बात की गयी है। धर्मकीर्ति न्यायबिन्दुप्रकरण में स्पष्ट करते हैं कि 'अमूढ स्मृतिसजन्नरूप

संस्कार जिस घटादि का है उसके प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति व वर्तमान प्रतिपत्तृत्यक्ष की निवृत्ति अभावव्यवहार का साधान करती है।[८]

इस प्रकार से प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति के द्वारा अभाव का अनुमान किया जाता है। प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति ही वस्तुतः अनुपलब्धि कही जाती है। प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृति का आशय दृश्यानुपलब्धि से है। अदृश्यानुपलब्धि किसी का अनुमान नहीं करा सकती। इस प्रकार समस्य अभावों का ज्ञान अलुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। बौद्धदार्शनिकों का यह अभ्युपगम का एक समस्या को जन्म देता है। अभाव हमारे अनुमान के द्वारा ही जाना जायेगा, अन्य किसी प्रमाण के द्वारा नहीं जाना जायेगा। यह स्वीकार करने का मुश्किल यह दिखयी है कि बोद्ध दार्शनिक कह रहे हैं कि अभाव का अनुमान अनुपलन्धि से, प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति से होता है। परन्तु अनुपलब्धि क्या है प्रतिपत्तप्रत्यक्ष की निवृत्ति क्या है? अनुपलब्धि का सीधा साधा अर्थ होगा उपलब्धि का अभाव। उपलब्धि का अभाव भी तो अभाव ही है। उसका ज्ञान किस प्रकार से होगा? अगर उपलब्धिा के अभाव काज्ञान किसी अन्य साधान से होता है तो किससे होता है? प्रमाण तो दो ही हैं–प्रत्यक्ष व व अनुमान। अनुपलब्धिा अगर उपलब्धि का अभाव है तो उसका ज्ञान भी किसी अनुमान के द्वारा ही होना चाहिए। उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष से उसका ज्ञान होने के लिए उसे स्वलक्षण होना चाहिए, अभाव तो स्वलक्षण नहीं ही है। अब अगर अउप उपलब्धि का अभाव का ज्ञान भी अनुमान से मानें तो निश्चय ही अनुपलब्धिहेतुक ही वह अनुमान होगा। फिर वही समस्या आयेगी। इस प्रकार एक अनवस्था की तरफ हम बढेंगे। क्या इस अनवस्थाप्रसंग का कोई समुचित समाधान है? वस्तुतः बौद्धदार्शनिक अभाव का अनुमान के द्वारा सधन करने की बात नहीं करते हैं अपितु अभावव्यवहार के साधन की बात करते है।[९] दृश्यानुपलब्धि अभावात्मक नहीं है अपितु ज्ञानरूप है। घटादि जो वस्तु अनुपलब्ध हो रही है उससे अतिरिक्त दृश्यमान वस्तु, व उस दृश्मान वस्तु का जो ज्ञान है, वहीं वस्तुतः प्रत्यक्षयोग्य घटादि दृश्य वस्तु की अनुलपब्धि है।[१०] घट के प्रत्यक्ष की निवृत्ति अभावरूप नहीं है, अपित भावरूप है। इस कारण उपर्युक्त अन्वस्था की आशङ्का आधार नहीं पाती है। साथ ही धर्मकीर्ति अभाव के अनुमान की बात नहीं करते हैं, किन्तु अभावव्यवहार के अनुमान की बात करते हैं। धर्मकीर्ति ने अनुपलब्धि को अभावव्यवहारसाधनी कहा है। परन्तु अभावव्यवहार क्या है? टीकाकारों के द्वारा

अभावव्यवहार के तीन प्रकार बताये गये हैं–(१) 'यहाँ घट नहीं है' इस प्रकार का विज्ञान (२) उस अभाव का अभिधान, तथा (३) विना किसी आशङ्का के उस प्रदेश में गमनागमनरूपा प्रवृत्ति।[११] वस्तुतः धर्मकीर्ति का सिद्धान्त कुछ इस प्रकार से सामने आता है जिसमें अभाव का अनुमान वस्तुतः अनुपलब्धि के द्वारा नहीं किया जाता है, अपितु एक वस्तु के ज्ञान के द्वारा भिन्न वस्तु के अभावव्यवहार काअनुमान होता है। धर्मकीर्ति स्वयं अनुमान को प्रमाण करते हुए भी उसे दोयम दर्जे का ही प्रमाण मानते हैं। धर्मकीर्ति का यह मत उनकी विज्ञानवादी मान्यताओं के अनुसार भले ही संङ्गत हो रहा हो, परन्तु किसी भी प्रकार से अनुभववादी अपेक्षाओं व वस्तुवादी लोकानुभव के साथ सङ्गत नहीं दिखायी देता है।

मेरे द्वारा धर्मकीर्ति को विज्ञानवादी कहने पर यह प्रश्न उपस्थिति हो सकता है कि जब धर्मकीर्ति विषय का स्वलक्षण व समान्यलक्षण इस प्रकार से भेद करते हैं, तथा स्वलक्षण को परमार्थसत् बताते हैं, तो वे विज्ञानवादी किस प्रकार हो सकते हैं? उनको तो वस्तुवादी सौत्रान्तिक बौद्धपरम्परा के अनुसार व्याख्यायित किया जाना चाहिए। यह प्रश्न और भी सशक्त दिखेगा अगर हम इस तथ्य को भी धयान में रखें कि **न्यायबिन्दुप्रकरण** में कहीं पर भी लेशमात्र भी सङ्केत धर्मकीर्ति के विज्ञानवादी होने का नहीं प्राप्त होता। परन्तु धर्मकीर्ति को विज्ञानवादी मानना ही उचित व तर्कसङ्गत है। धर्मकीर्ति **प्रमाणवार्तिक** में भी 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्' का उद्घोष तो करते ही हैं। प्रत्यक्ष को स्वलक्षणविषयक व अनुमान को सामान्यलक्षणविषयक यहाँ पर भी मानते हैं। परन्तु प्रत्यक्षपरिच्छेद में ही गम्भीर विचार करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि 'कोई भी अर्थ संवेदन रहित नहीं है तथा विना अर्थ के कोई संवेदन भी नहीं है, इस कारण अर्थ व ज्ञान में वस्तुतः कोई भेद नहीं है।इस कारण ज्ञानकाल में ही अवभासित होनेवाले अर्थ का ज्ञानरूप होना दुर्वार है।'[१२] इसलिए स्वलक्षण भी बाह्य नहीं है, किन्तु विज्ञान ही स्वलक्षण है। स्वलक्षण शब्द के द्वारा किसी वस्तु को नहीं समझना चाहिए, अपितु विज्ञान को ही। प्रमाणवार्तिक के अनुसार धर्मकीर्त को विज्ञनवादी व न्यायबिन्दुप्रकरण के अनुसार वस्तुवादी मानना मुझे किसी भी तरह से उचित नहीं दिखायी देता। न्यायबिन्दुप्रकरण की हर एक पङ्क्ति प्रमाणवार्तिक के अुनसार धर्मकीर्ति के विज्ञनवाद के साथ सङ्गत है।

ज्ञान का भेद विषय में भेद के विना किस प्रकार से सम्भव है? इस

सवाल का कोई सन्तोषजनक उत्तर धर्मकीर्ति के मत के अनुसार प्राप्त करना सम्भव नहीं दिखायी देता है। धर्मकीर्ति इसके उत्तर में यही कहेंगे कि 'किसी ज्ञान का कोई दूसरा अन्दर विद्यमान वासना का प्रबोधाक होता है, उसी वासना के द्वारा ही ज्ञानों का नियम होता है किसी बाह्य अर्थ की व्यपक्षा से नहीं।'[१३] जिस प्रकार स्वप्न में विना किसी बाह्य अर्थ की व्यपेक्षा से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जाग्रत् काल में भी बाह्य अर्थ की व्यपेक्षा के विना ही ज्ञान उत्पन्न होते हैं। धर्मकीर्ति का यह उत्तर लौकिक व्यवहारोंकी व्याख्या करने का प्रयास तो करता है, परन्तु सन्तोषप्रद नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसकी परिणति किसी भी ज्ञान को बाह्यवस्तु का आधार न प्रदान करने में होती है।

न्याय-परम्परा के जो आधारभूत अभ्युपगम हैं, उसमें इसके लिए कोई आधार नहीं बचता कि अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है। अभाव यदि अनुमान के द्वारा जाना जाता है तो उसका अनुमान किस हेतु से किया जायेगा? यदि किसी भी स्थल में अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है तो किस प्रकार से अभाव का अनुमान भी कर पाना सम्भव होगा? यदि अग्नि और धुआँ किसी स्थल में पहले साथ-साथ नहीं देखे गये हैं तो धुआँ देखकर भी अग्नि का अनुमान लगा पाना सम्भव नहीं हुआ करता है। इसी प्रकार यदि अनुपलब्धि व अभाव को किसी स्थल में साथ-साथ नहीं देखा गया है, तो किसी भी तरह से अनुपलब्धि के द्वारा अभाव का अनुमान नहीं किया जा सकेगा। हालाँकि यह हर एक जगह के लिए आवश्यक नहीं है कि साध्य व हेतु पहले किसी स्थल में साथ-साथ दिखायी ही पड़े हों। आखिर केवलव्यतिरेकी अनुमान भी तो नैयायिक मानते ही हैं। तो क्या अनुपलब्धि के द्वारा अभावका अनुमान केवलव्यतिरेकी अनुमान के रूप में नहीं व्यवस्थापित किया जा सकता? किया जा सकता है, बशर्ते यह तार्किक अपेक्षाओं व लौकिक अनुभवों के साथ सङ्गत हो। परन्तु अनुपलब्धि स्वयं भी उपलब्धि का अभाव ही है। नैयायिक अनुपलब्धि को किसी भी तरह से उपलब्धि के अभाव से ज़्यादा नहीं मान सकते हैं, क्योंकि उपलब्धि का सीधा-सीधा अर्थ ज्ञान हुआ करता है। तो अनुपलब्धि का अभिप्राय ज्ञानाभाव से ही लियाजाना चाहिए। इसके निहितार्थ कहीं ज़्यादा दूर तक हो जाते हैं। बौद्धपरम्परा ज्ञान को स्वसंवेदन मानती है। इसके विपरीत नैयायिक ज्ञान को अनुव्यवसायवेद्य मानते हैं। इसी कारण बौद्धों के लिए अनुपलब्धि को ज्ञानात्मक मान पाना तार्किक रूप से सम्भव हो पाता है अगर उपलब्धि ज्ञानात्मिका होती हुई स्वसंवेद्य है, तो अनुपलब्धि को भी

ज्ञानात्मिका होने के कारण स्वसंवेद्य मानने में कोई दिक्कत नहीं है। ध्यातव्य है कि यद्यपि न्यायपरम्परा ज्ञान को अनुव्यवसायवेद्य मानती है, परन्तु न्यायसूत्रों में कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जो ज्ञान को स्वप्रकाश मानने के पक्ष में ज़्यादा सङ्गत हो सकते हैं। जैसे कि न्यायसूत्रों के द्वितीय अधयाय में प्रमाणों के द्वारा प्रमेयों की सिद्धि होती है तो प्रमाणों की सिद्धि किससे होगी? इस अत्यन्त प्राचीन प्रश्न के समाधान का अन्वेषण करने के क्रम में अनेक उत्तरपक्षों का उपस्थापन करते हुए अन्त में गौतम कहते हैं कि–'कोई समस्या नहीं है, क्योंकि प्रदीपप्रकाशसिद्धि की तरह प्रमाणों की सिद्धि हो जाती है।'[१४] बारह सूत्रों में की गयी प्रमाणपरीक्षा का यह अन्तिम सूत्र है। इस कारण में इसे सिद्धान्तसूत्र की मान्यता देना ज़्यादा उचित समझता हूँ। **प्रदीपप्रकाश** का दृष्टान्त ज्ञान की स्वसंवेद्यता या स्वप्रकाशता का प्रतिपादन करने के लिए अन्यत्र भी प्रस्तुत किया गया है। वैदल्यसूत्र में नागार्जुन ने न्यायमत का खण्डन करने के लिए जिन मतों का उपस्थापन किया है उसमें **प्रदीपप्रकाश** के दृष्टान्त को भी उठाकर उसका खण्डन किया है।[१५] मुझे ऐसा लगता है कि न्यायसूत्रो में अभाव के ज्ञान की समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया गया है वह प्रायशः बौद्धपरम्परा द्वारा प्रस्तुत समाधान के काफ़ी समीप है। हालाँकि नयपरम्परा का मान्य सिद्धान्त यह नहीं बन सका। न्यायपरम्परा ऊपर प्रदर्शित पक्ष को ही स्वीकार करती है व न्यायसूत्रकार के पक्ष को छोड़ दिया गया है। इसके मूल में दोनों सम्प्रदायों में[१६] ज्ञान की स्वसंवेद्यता या स्वप्रकाशता की स्वीकृति पर्याप्त महत्त्व रखती है। विना ज्ञान की स्वसंवेद्यता या स्वप्रकाशता को स्वीकार किये अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा अभाव को सिद्ध करना सम्भव दिखायी नहीं देता। वस्तुतः अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा अभाव की सिद्धि करनी मुश्किल है। किया केवल यह जा सकता है कि हम अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा अभावज्ञान की सिद्धि करें। इसमें जो समस्या आती हैख वह कुछ ज़्यादा ही गम्भीर है। वह यह कि कम से कम एक स्थल ऐसा है जहाँ पर ज्ञान तो हो रहा है परन्तु विषय नहीं है। यह बात न्यायपरम्परा के इस अभ्युपगम से बिल्कुल ही विपरीत जाती है कि ज्ञानभेद विषयभेद से जन्य हआ करता है, क्योंकि इस स्थल में विषय-भेद के न रहने पर भी ज्ञान का भेद तो हो ही रहा है। यहाँ पर ज्ञान का भेद के विना भी उत्प्रेक्षामात्र से या कल्पनामात्र से हो रहा है, ऐसा मानना पड़ेगा। इस कारण विज्ञानवादी को समस्त ज्ञानों के विषयों को ज्ञानाभिन्न मानने के लिए एक आधार मिल जाता है। इसलिए उसके मत में तो इसका व्यवस्थापन सम्भव है। बौद्धपरम्परा प्रत्यक्षमात्र को कल्पनापोढ मानती है।

साथ ही यह भी स्वीकार करती है कि वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्यवहाराङ्ग नहीं होता है। न केवल इतना ही अपितु अनुमान को अयथाभिनिवेशिनी भ्रान्ति मानकर लौकिक अनुभवों की प्रामाणिकता को तो बौद्धपरम्परा तिलाञ्जलि ही दे देती है। ये समस्त स्वीकार लौकिक अनुभवों के साथ सङ्गत नहीं दिखते हैं, साथ ही यह वस्तुवादी दृष्टिकोण के साथ भी सङ्गत नहीं दिखता है। न्यायपरम्परा सम्भ्ज्ञवतः इसी कारण इस विषय में न्यायसूत्रकार गौतम द्वारा प्रदर्शित मार्ग का परित्याग करती दिखायी देती है।

अतः अनुभववाद व वस्तुवाद के अभ्युपगमों के आलोक में अभाव का ज्ञान अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा हो पाना समुचित नहीं दिखता। फिर रास्ता क्या है? वस्तुतः रास्ते सीमित हैं। अभाव का ज्ञान या तो अनुमान या प्रत्यक्ष से मानना उचित दिखता है। अभाव या अनुपलब्धि को एक अलग प्रमाण मानकर उससे अभाव का ज्ञान मानने की बात तो और भी विचित्र दिखती है। कुमारिलभट्टानुसारी मीमांसक सम्प्रदाय के मानमेयोदय नामक ग्रन्थ में अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप कुछ यूँ बताया गया है कि–'उपलब्धियोग्य होने पर भी अनुपलब्ध होना ही अभाव का बोधक अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण है।'[१७] वहीं पर अनुपलब्धि को इस प्रकार के अभाव ज्ञान का कारण माना गया है तथा उसका स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि अनुपलब्धि ज्ञानाभावरूप है।[१८] इस कारण अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव का ज्ञान स्वीकार करने में उपर्युक्त अनवस्था आदि समस्याएँ अवश्य उपस्थित होंगी, क्योंकि कम से कम ज्ञानाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से न मानकर किसी अन्य प्रमाण से मानना होगा। हालाँकि अभाव का ज्ञान कराने के लिए अनुपलब्धि प्रमाणभूत ज्ञानाभाव के ज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं है क्योंकि अनुपलब्धि ज्ञात होकर अभाव का ज्ञान नहीं कराती है, किन्तु अज्ञात रहकर ही अभाव का ज्ञान कराती है। परन्तु अभावमात्र का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा हुआ करता है, ऐसा दावा तो खण्डित ही हो जायेगा। इसलिए अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा तो अभाव का ज्ञान होने की बात युक्तिसङ्गत नहीं दिखती है।

एक दूसरा मत आता है प्रभाकर का। प्रभाकर अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से स्वीकार करते हैं। परन्तु अभाव को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में या अतिरिक्त प्रमेय के रूप में स्वीकारना प्रभाकर उचित नहीं मानते। बल्कि अभाव का जो अधिकरण है, अभाव अपने उस अधिकरण से अतिरिक्त नहीं है। यह प्रभाकर

का मत काफ़ी हद तक सामान्य लोकानुभव का सम्मान करता है, उसे बाधित नहीं करता। मगर इस मत की भी कुछ समस्याएँ हैं जिनकी ओर न्यायपरम्परा के आचार्यों ने सङ्केत किया है।

प्रथमत: सामान्यत: जो लोकानुभव होते हैं कि 'मेज़ पर पुस्तक नहीं है' 'ज़मीन पर घट नहीं है', इन समस्त लोकानुभवों में अभाव का अपने अधिकरण के साथ आधाराधेयभाव बोधित होता है। यह आधाराधेयभाव अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने पर नहीं व्यवस्थापित किया जा सकता।

द्वितीयत: इन्द्रियों के साथ विषयों के ग्रहण का अन्वयव्यतिरेकानुविधायित्व दिखयी देता है, चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा रूप व रूपवान द्रव्य का ही प्रत्यक्ष होता है, अन्य स्पर्शादि का नहीं, घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्ध का प्रत्यक्ष होता है, रूपादि का नहीं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के साथ भी इसी प्रकार की बात देखी जा सकती है। वायु में न तो गन्ध है, न तो रूप है। परन्तु प्रभाकर के अभ्युपगम के आलोक में तो अभाव अपने अधिकरण से तो भिन्न है नहीं। वायु में रूप का अभाव भी है, तथा गन्धा का अभाव भी है। नियम यह है कि रूपाभाव का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा तथा गन्धाभाव का ग्रहण घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है। रूपाभाव को घ्राणेन्द्रिय के द्वारा तथा गन्धाभाव को चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। परन्तु अभाव यदि अपने अधिकरण से भिन्न नहीं है तो रूपाभाव भी अपने अधिकरण वायु से अतिरिक्त नहीं है, साथ ही गन्धाभाव भी अपने अधिकरण वायु से अतिरिक्त नहीं है। इस कारण अगर घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्ध का अभाव वायु में जाना जा रहा है या चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा रूप का अभाव जाना जा रहा है तो दोनों ही स्थितियों में एक ही वस्तु दोनों इन्द्रियों के द्वारा गृहीत हो रही है, यह मानना होगा, जो कि किसी भी तरह अनुभव के साथ सङ्गत नहीं दिखायी देता है। इस स्थिति में तो गन्धाभाव का ग्रहण भी चक्षु से होना चाहिए, तथा रूपाभाव का ग्रहण भी घ्राणेन्द्रिय से होना चाहिए क्योंकि इस स्थिति में ये दोनों तो एक ही वस्तु है। प्रभाकर के मत में यह आपत्ति समाहित नहीं हो सकती है। इस कारण नैयायिक अभाव को अधिाकरण से अतिरिक्त मानने का पक्ष रखते हैं।

परन्तु नैयायिकों के अनुसार अभाव को अधिकरणात्मक न मानकर अतिरिक्त मान लेने पर व उस अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है यह मान लेने पर समस्यायें किन्हीं अन्य रास्तों से आती दिखती हैं। न्यायसूत्रकार ने प्रत्यक्ष की

परिभाषा देते हुए प्रत्यक्ष के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य होने की अनिवार्यता पर बल दिया है।[१९] परवर्ती नैयायिकों ने ईश्वरप्रत्यक्ष से भिन्न सभी प्रत्यक्षों की अनिवार्य शर्त के रूप में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व को स्वीकार किया है। ईश्वरप्रत्यक्षको तो वस्तुतः प्रत्यक्ष न होते हुए भी प्रत्यक्षसदृश होने के कारण प्रत्यक्ष माना गया है। तो किस प्रकार से अभाव के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का सम्पादन किया जाये? यह एक सबसे बड़ा प्रश्न न्यायवैशेषिकपरम्परा के सामने खड़ा था। **न्यायवार्तिक** में इसका समाधान उद्योतकर विशेष्यविशेषणभाव को अभावप्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष के रूप में प्रस्तुत कर देने का प्रयास करते हैं। इस विषय में लम्बे विवेचनों के क्रम में यह सिद्धान्तित किया गया है कि वस्तुतः विशेष्यविशेषणभाव एक सम्बन्धा नहीं है अपितु विशेष्यता व विशेषणता को–संयोग, समवाय आदि जो पाँच सम्बन्ध प्रत्यक्ष के लिए स्वीकारे जाते हैं,–उनके साथ जोड़कर दस सन्निकर्ष और विशेष्यता व विशेषणता भी स्वतन्त्र रूप से अभावप्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष के रूप में स्वीकार करते हुए द्वादश सन्निकर्ष स्वीकार्य हैं।[२०] प्रत्यक्ष के उपपादन के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की अनिवार्यता की बात स्वीकार करने के कारण नैयायिकों के लिए अभावप्रत्यक्ष के लिए भी सन्निकर्ष का स्वीकार अनिवार्य है, अन्यथा अभाव का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा सम्भव नहीं होगा।

अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा इस प्रकार से स्वीकारने की कोशिश उन्हें अनानुभाविक लग सकती है, जो न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तों से सुपरिचित नहीं है। परन्तु यह समस्त अभ्युपगम आनुभविक अभ्युपगमों पर ही आधारित है, यह बात सुस्पष्ट हो जायेगी यदि हम यह जानने का प्रयास करें कि यह विशेषणता या विशेष्यता आख़िर क्या बला है? यह विशेषणता या विशेष्यता स्वरूपसम्बन्धविशेष ही हैं। विशेषणता व विशेष्यता को स्वरूपसम्बन्धविशेष कहने का आशय यह है कि विशेषणता व विशेष्यता विशेषण या विशेष्य से अतिरिक्त नहीं है। सार रूप में कहा जा सकता है कि स्वरूपसम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से भिन्न नहीं होता है। वस्तुतः नैयायिकों का अभिमत यह है कि अभाव तो अतिरिक्त पदार्थ है परन्तु अभाव का अपने अधिकरण के साथ जो सम्बन्ध है वह अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। अभाव का अपने अधिकरण के साथ स्वरूप सम्बन्ध है, यह स्वरूप-सम्बन्ध भूतलादि रूप अधिकरण से अतिरिक्त नहीं है। 'स्वरूपसम्बन्ध उसको ही कहा जाता है जो दूसर किसी सम्बन्ध के बिना ही विशिष्टप्रतीति को

उत्पन्न करने में सक्षम हो।'[२१] सम्बन्धों की सत्ता का खण्डन करने के लिए प्राच्य व पाश्चात्य दोनों ही परम्पराओं में अनवस्था की बात उठायी गयी है, नैयायिक स्वरूपसम्बन्ध को स्वीकार कर उन समस्त आपत्तियों का समाधान करने में भली प्रकार से सफल हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि सभी जगहों पर किसी के भी वैशिष्ट्य का प्रत्यय के लिए उन सम्बन्धों का भी अपने सम्बन्धियों के साथ कोई सम्बन्ध हो यह आवश्यक नहीं है। इस कारण सम्बन्धधारा दो-तीन सोपान तक जाकर ही विराम ले लेती है। इस तरह इन्द्रियों के साथ अभाव का सन्निकर्ष होने के लिए बस इतना आवश्यक है कि इन्द्रिय का उस अभाव के अधिकरण के साथ सन्निकर्ष हो जाये। इन्द्रिय का उस अभाव के अधिकरण के साथ सन्निकर्ष हो जाने मात्र से ही अभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष सम्पन्न हो जाता है, क्योंकि अभाव का अपने अधिकरण के साथ स्वरूप-सम्बन्ध ही है, प्रतियोगी का अनधिकरणकालीन जो देश है तद्देशात्मक ही अभाव का सम्बन्ध है।[२२] यह स्वीकार किसी भी तरह से न तो अनानुभविक है और न ही अनुभवविरुद्ध लगता है। यह उसी परिस्थिति में अनुभवविरोधी व अनानुभविक लग सकता है, जब हम स्वरूपसम्बन्ध को भी अन्य सम्बन्धों की तरह समझ लेते हैं। परन्तु उपर्युक्त उद्धरणों व विवेचन के आलोक में स्वरूपसम्बन्ध व अन्य सम्बन्धों में एक खास तरह का अन्तर किया जाना अनिवार्य है, उस अन्तर को दृष्टिगत रखने पर अभावज्ञान की समस्या का वही हल सबसे अधिक आनुभविक लगेगा जो नैयायिकों ने प्रस्तुत किया है, ऐसा मुझे लगता है।

सन्दर्भ

१. नाभावप्रामाण्यम्, प्रमेयासिद्धेः। न्यायसूत्र २-२-७

२. संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। तर्कसङ्ग्रह, प्रत्यक्षखण्ड

३. प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रत्यक्षान्तरं बहुवादिसम्मतत्वाच्चोपमानात् प्रागनुमानं निरूप्यते। तत्त्वचिन्तामणि, अनुमानखण्ड प्रथम वाक्य

४. स द्विविधः-दृष्टादृष्टार्थत्वात्। न्यायसूत्र १-१-८

५. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स सृष्टान्तः। न्यायसूत्र १-१-२५

६. न चतुष्ट्वम्-ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रमाण्यात्। न्यायसूत्र २-२-१

७. शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभवाच्चाप्रतिषेधः। न्यायसूत्र २-२-२

८. 'अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृत्यक्षस्य निवृत्तिरभावव्यवहारप्रसाधनी' २-२८ तथा वहीं पर अग्रिमसूत्र के द्वारा धर्मकीर्ति कहते हैं कि 'तस्या एवाभावनिश्चयात्' २ -२१ न्यायबिन्दुप्रकरण। यहाँ एकादश प्रकार की अनुपलब्धियों का विवेचन किया गया

है, तथा उनसे हीअभावज्ञान व अभावव्यवहार का साधन किया गया है।

९. तेन न घटाभावः साध्यः अपितु अभावव्यवहार इत्युक्तम्। धर्मोत्तरकृता न्यायबिन्दुटीका पृ. 64, न्यायबिन्दुप्रकरणम्, विनीतदेव-धर्मकीर्तिटीकाद्वयसहितम्, बौद्धभारती, वाराणसी १९९४

१०. अत एकज्ञानसंसर्गी दृश्यमानोऽर्थस्तज्ज्ञानञ्च प्रत्यक्षनिवृत्तिरुच्यते। धर्मोत्तरकृता न्यायबिन्दुटीका पृ. ६४, वहीं।

११. अभावव्यवहारस्तु 'इह घटो नास्ति' इत्येवमाकारं विज्ञानम्, तदभिधानम्, निः शङ्कप्रदेशादौ गनमलक्षणा प्रवृत्तिश्च। ज्ञानाभिधानप्रवृत्तिलक्षणो व्यवहारः साध्यतेऽनयेति अभावव्यवहारसाधनी। पृ. ६४-६५, न्यायबिन्दुविस्तर, लेखक विनीतदव वहीं।

१२. नार्थोऽसंवेदनः कश्चिदनर्थं वापि वेदनम्।
दृष्टं संवेद्यमानं तत् तयोर्नास्ति विवेकिता।।
तस्यादर्थस्य दुर्वारं ज्ञानकालावभासिनः।
ज्ञानादव्यतिरेकित्वम् .....।। प्रमाणवार्तिक २-३९०, ३९१

१३. कस्यचित् किञ्चिदेवान्तर्वासनायाः प्रबोधकम्।
ततो धियां विनियमो न बाह्यार्थव्यपेक्षया।। प्रमाणवार्तिक २-३३६

१४. न-प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत्तत्सिद्धेः। न्यायसत्र २-१-१९

१५. द्रष्टव्य-वैदल्यसूत्र, सम्पादित-सैम्पा दोर्जे, काशी विद्यापीठ वाराणसी

१६. बौद्धपरम्परा में मान्यरूप में तथा न्यायपरम्परा में केवल न्यायसूत्रों में इसकी स्वीकृति पायी जा सकती है। न्यायपरम्परा केअनेक विद्वान् मेरी इस बात से भी सहमत नहीं होंगे कि न्यायसूत्रों में ज्ञान के स्वप्रकाशता की बात स्वीकार की गयी है। इसका कारण यह है कि वात्स्यायन से लेकर आगे की पूरी न्यायवैशेषिकरम्परा 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' न्न्यायसूत्र-२-१-१६ से सङ्गति रखत हुए ज्ञान व प्रमाणों की ज्ञानान्तरसंवेद्यता का सिद्धान्त विकसित करती है। जबकि मुझे ऐसा लगतार है कि 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' सूत्र के द्वारा जो पक्ष गौतम के द्वारा उठाया गया था, उसको अन्य आक्षेपों के आलोक में स्वयं गौतम ने खण्डित कर दिया है। इसका कारण यह है कि इस सूत्र के द्वारा न्यायसूत्रकार ने यह पक्ष रखा था कि 'प्रमाण प्रमेय भी हो सकते हैं जैसे अन्य वस्तुओं को तौलने के लिए उपयोग में आनेवाली तुला स्वयं किसी अन्य तुला क द्वारा तौली जाती है'। परन्तु इसके अग्रिम सूत्र 'प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरतासिद्धिप्रसङ्गः' २-१-१७ के द्वारा गौतम इसके ऊपर सवाल खड़ा कर देते हैं कि 'अगर प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणों के द्वारा होती है, तो प्रमाणान्तरों की सिद्धि का प्रसङ्ग उपस्थित होगा'। तथा 'यदि प्रमाणों की सिद्धि के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती है तो प्रमेयों की सिद्धि भी प्रमाणों से ही होती है इसका कोई समुचित आधार नहीं बनता 'तद्विनिवृत्तेर्वाद्य प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः। इसी प्रश्न का तार्किक समाधान 'न- प्रदीपकाशसिद्धिवत्तत्सिद्धेः' २-१-१९ सूत्र प्रस्तुत करता है। मुझे यह स्वीकार करना ज़्यादा उचित दिखता है कि नागार्जुन के द्वारा वैदल्यसूत्र व विग्रहव्यावर्तनी में उठाये गये आक्षेपों के आलोक में वात्स्यायन आदि ने न्यायशस्त्रीय सिद्धान्तों को ज़्यादा सुचिन्तित आधार दने का प्रयास किया है।

१७. अथोपलम्भयोग्यत्वे सत्यप्यनुपलम्भनम्।
अभावाख्यं प्रमाणं स्यादभावस्यावबोधनम्।। पृ. १३३, मानमेयोदय, लेखक-नारायण, सी. कुन्हन राजा व एस.एस. सूर्यनारायणशास्त्री की आङ्ग्ल व्याख्या के साथ, प्रकाशक-अड्यार

पुस्तकालय व अनुसन्धान केन्द्र, मद्रास द्वितीय सस्करण सन्-१९७५

१८. अत्र ह्यनुपलम्भः करणम्। तस्य च ज्ञानाभावरूपत्वादभावः प्रमाणमित्युच्यते।। पृ. १३४, वहीं

१९. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' न्यायसूत्र १-१-४

२०. इस विषय में विशेष विवेचन के लिए लेखन का आलेख 'न्यायदर्शन में इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद' द्रष्टव्य है। जो कि 'भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद' नामक पुस्तक में सङ्गृहीत है। सम्पादक-अम्बिकादत्त शर्मा, प्रकाशक-विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, सन् -२००६

२१. सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वस्य स्वरूपसम्बन्धत्वात्। पृ. ७६४, तत्तवचिन्तामणि, लेखक-गङ्गेशोपाध्याय, रुचिदत्तमिश्रकृप्रकाश व रामकृष्णाध्वरिन् कृत न्यायशिखामणिसहित, सम्पादक-एन.एस.रामानुज ताताचार्य प्रकाशक-केन्द्रयसंस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति 1973

२२. एवञ्च तत्तत्कालीनं तत्तद्भूतलादिकं तत्तदभावानां सम्बन्धः। पृ. ९१-९१, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिकावली न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-दिनकरी-रामरुद्रीसहित, चौ. सं.सी. आफिस, वाराणसी, १९८२